WE
Vol 1 No. 1-2
June-Dec 2020

कृष्णनाथ का यात्रा-साहित्य और पश्चिमोत्तर हिमालय का जनजातीय समाज

स्नेह लता नेगी, दिल्ली विश्वविद्यालय

मनुष्य प्रकृत्यतः सौंदर्य प्रेमी और उसकी प्रवृत्ति घुमक्कड़ी की रही है। वह जहां भी यात्रा करने जाता है वहां से कुछ न कुछ ग्रहण करना उसका स्वभाव है। उस ग्रहण किए अनुभवों को अभिव्यक्त किए बिना साहित्यकार मन नहीं रह सकता। वही अनुभव जब स्मृतियों से बाहर निकलकर आती है तो साहित्य में एक नई विधा का रूप ले लेता है। जिसे हम यात्रा साहित्य कहते हैं। किसी भी देश का भ्रमण करना उस देश की सांस्कृतिक विविधता, वहां का इतिहास, राजनीति और भाषा आदि से परिचित होना है। इससे भ्रमण करने वाले व्यक्ति का ज्ञान तो समृद्ध होता है साथ ही पाठक का भी ज्ञानवर्धन होता है। अज्ञेय ने बिल्कुल सही कहा कि "ज्ञान बुद्धि और अनुभव संचय के लिए देशाटन उपयोगी है।"[36]

पश्चिम के प्रख्यात विचारक मानतेन का मानना है कि 'भ्रमण के अभाव में कोई व्यक्ति पूर्ण शिक्षित नहीं कहा जा सकता।' मानव जीवन में यात्रा का अपना प्रयोजन रहा है। मुख्यता राजनीतिक, धार्मिक सांस्कृतिक, व्यवसाय और व्यापारिक आदि अनेक कारणों से भ्रमण किए जाते रहे हैं। इनके अतिरिक्त मनोरंजन, अनुसंधान, अध्ययन, स्वास्थ्य लाभ अथवा अन्य व्यक्तिगत कारणों से भी स्थान विशेष की यात्रा का कारण रहा है। आज सांस्कृतिक आदान-प्रदान के चलते विश्व भर के सभी देश एक दूसरे के ज्यादा करीब आ गए हैं। जो एक दूसरे के प्रति अपरिचय के दीवार को तोड़ती है। इस दिशा में भी यात्रा वृतांत का महत्वपूर्ण योगदान रहा है जो साहित्य के माध्यम से दो संस्कृतियों के बीच मेल मिलाप बढ़ाता है। हिंदी साहित्य में भारतेंदु युग से यात्रा साहित्य की शुरुआत देखी जा सकती है। लेकिन यात्रा साहित्य की समृद्ध परंपरा राहुल सांकृत्यायन से शुरू होते हुए अज्ञेय और निर्मल वर्मा के बाद कृष्णनाथ जी अपनी समृद्ध यात्रा साहित्य के कारण हिंदी साहित्य में भी अपना विशेष स्थान रखते हैं। अर्थशास्त्र के प्राध्यापक होते हुए भी साहित्य के प्रति कृष्णनाथ जी का विशेष रुझान रहा है। हिमालय पर हिंदी भाषा में अनेक महत्वपूर्ण यात्रा वृतांत उन्होंने लिखे। जिनमें 'किन्नर धर्मलोक', ' स्पीति में बारिश', ' लद्दाख में राग विराग', 'अरुणाचल यात्रा',' कुमाऊं यात्रा', 'हिमाल यात्रा' आदि अनेक यात्रा-वृतांत हिंदी यात्रा-साहित्य को समृद्ध करता है। कृष्णनाथ जी के यात्रा -साहित्य में पश्चिमोत्तर हिमालय के किन्नौर, स्पीति और लद्दाख की भाषा-संस्कृति, वहां का भुगोल, इतिहास और प्राकृतिक सौंदर्य की अभिव्यक्ति के साथ-साथ जनजातीय समाज की सामाजिक संरचना, जीवन दर्शन वहां के लोगों की सहजता और सरलता का सुंदर चित्रण मिलता है। इन यात्रा वृत्तांतों में हिमालय का जनजातीय समाज मुख्यधारा के समाज से कई मामलों में अलग दिखाई पड़ता है। जिसके चलते बाहरी लोगों का उनके पर्व-त्योहारों, परंपराओं और रीति-रिवाजों के प्रति पूर्वाग्रही दृष्टिकोण देखा जा सकता है। किन्नौर में बाहरी लोगों को 'कोचा' कहा जाता है। किन्नौर से बाहर का हर व्यक्ति वहां के लोगों के लिए 'कोचा' है। जब कोचा किन्नौर में आते हैं, वह अपने साथ अपनी भाषा और संस्कृति लेकर आते हैं और वहां की संस्कृति और लोगों को अपने से कमतर

[36]एक बूँद सहसा उछली, अज्ञेय, पृष्ठ 15

समझने लगते हैं। इसलिए उनके पर्व त्योहारों को लेकर भी नकारात्मक दृष्टिकोण इन यात्रा वृतांतों में देखा जा सकता है। कृषणनाथ जी किन्नौर, लद्दाख और स्पीति की ओर इसलिए भी आकर्षित होते हैं क्योंकि यह तीनों ही क्षेत्र महत्वपूर्ण बौद्ध स्थल हैं। तीनों ही यात्रा वृतांत में वहां के मोनास्टिक कल्चर के दिग्दर्शन होते हैं। किन्नौर के निचले हिस्से में हिंदू धर्म का प्रभाव ज्यादा है। लेकिन जैसे-जैसे किन्नौर के ऊपरी हिस्से में आगे बढ़ते हैं तो बौद्ध धर्म का प्रभाव अधिक देखने को मिलता है। कृष्णा जी ने अपने यात्रा वृतांतों में उस समय के इतिहास, संस्कृति और समकालीन परिवेश को तथ्यों के साथ रखा है। किन्नौर के संदर्भ में वह लिखते हैं-"इतिहास पुराण में किन्नर देश बड़ा भौगोलिक सांस्कृतिक क्षेत्र रहा है।..किसी समय किम्पुरुष वर्ष प्रायः सारे ही हिमालय का नाम रहा होगा यद्यपि आज वह संकुचित होकर बुशहर रियासत की एक तहसील चीनी एवं कुछ नीचे उतरकर उस से लगे हुए 20-25 गांव के लिए व्यवहृत होता है। किन्नौर का यह जिला तो हाल-हाल का है। इतिहास पुराण के किन्नर या किम्पुरुष तो मिथक जैसे है। देवयोनी में माने जाते हैं।"[37]

बौद्ध धर्म के आगमन से पूर्व हिमालय क्षेत्र के लोग किस धर्म में आस्था रखते थे। यह इन यात्रा-वृतांतों से हमें ज्ञात है। किन्नौर में 'शू' संस्कृति है जो हिंदू देवी देवता नहीं है। वह उस समाज का अपना विशिष्ट आराध्य है।"किन्नौर का देवता अलग है। वह राम, कृष्ण, शिव जैसा नहीं है, यह अलग बात है। आदिम देवता है।"38 'शू' यहां की संस्कृति का अभिन्न हिस्सा रहा है । यहां यह माना जाता है कि बौद्ध धर्म के आगमन से पूर्व बोन धर्म के प्रति लोगों की आस्था थी जो आज भी न्यूनाधिक रुप में देखने को मिलता है। पूरे हिमालय क्षेत्र में बोन धर्म को मानने वाले लोग रहे हैं। इस संदर्भ में कृष्णा जी लद्दाख के सर्वमान्य लामा (बौद्ध भिक्षु) कुशोक बकुला से जाने की कोशिश करते हैं कि आखिर यह बोन धर्म क्या है? तो बकुला स्पष्ट करते हैं कि बोन सिस्टम के अंतर्गत बड़े-बड़े पहाड़ों, नदी, नालों गांव के 'शू', 'ला' को पूजते हैं। यह सभी तत्व सर्वोच्च शक्ति के प्रतीकात्मक रूप में माने जाते हैं। इसलिए इन्हें पूजा जाता है। बकुला कहते हैं कि लामा इसे नहीं मानते। बौद्ध धर्म को बोन धर्म से ऊपर मानते है। लामा इससे ऊपर है। इसलिए 'शू' और 'ला' भी लामा से डरते हैं । इसी तरह सामाजिक, सांस्कृतिक और भाषाई समानताएं तीनों ही क्षेत्रों में दिखाई देती है। कृष्णनाथ जी का वहां के धर्म की भाषा और संस्कृति को लेकर गहरी चिंता इन यात्रा साहित्य में देखी जा सकती है। भाषा को लेकर कृष्णनाथ जी कहते हैं-"भोटी लद्दाख से लेकर अरुणाचल तक हिमालय की धर्म भाषा है। इसके ज़रिए हिमालय का धर्म उसकी संस्कृति का मर्म समझ में आ सकता है। अन्यथा नहीं।... भोटी भारतीय हिमालय के प्रत्येक देश की भाषा है। तिब्बत में इसका विशेष विकास हुआ लेकिन यह सिर्फ तिब्बत की भाषा नहीं है। भाषा और संस्कृति की सीमा राजनीतिक सीमाओं से बंधी हुई नहीं होती उनके पर भी जाती है।"[39]

किसी भी समाज की भाषा उस समाज की धरोहर होती है। भाषा के विलुप्त होने के साथ उस भाषा में परंपरा से अर्जित ज्ञान संपदा भी विलुप्त हो जाती है। कृष्णा जी की चिंता वाजिब है। वहां की भाषा को संरक्षित करने और नई पीढ़ी को अपने धर्म की भाषा सीखने के लिए कृष्णनाथ जी भावी पीढ़ी को भोटी भाषा सीखने के लिए प्रेरित करते हैं। उनका मानना है कि हिमालय कि "भाषा के बिना मनुष्य जाति दरिद्र होगी।"[40] इसलिए कृष्णनाथ जी अपने यात्रा वृतांतों में भारत सरकार द्वारा चलाए गए त्रिभाषा सूत्र को महत्वपूर्ण बताते हुए पश्चिमोत्तर हिमालय के किन्नौर,

---

[37]किन्नर धर्मलोक, कृष्णनाथ, पृष्ठ 40-41

[38]वही, पृष्ठ 13

[39]वही , पृष्ठ 134

[40]वही, पृष्ठ135

स्पीति और लद्दाख के स्कूलों में तीसरी भाषा के रूप में उर्दू की जगह भोटी भाषा को पढ़ाये जाने पर जोर देते हैं। जिसके लिए जनता को एकजुट होने के लिए आग्रह करते हैं-"भोटी भाषा की पढ़ाई हो इसके लिए सीमांत प्रदेशों में जनमत का दबाव जरूरी है। जनतंत्र का प्रशासन आंदोलन के अंकुश से चलता है। नहीं तो कर्मचारी तंत्र अपने आप में जड़ होता है। भोटी आंदोलन विचार-प्रचार, सूचना- संचार, सभा वगैरह में प्रस्ताव, विधायकों, मंत्रियों और अफसरों से अनुनय-विनय और अंत में जरूरी होने पर सविनय अवज्ञा के रूप में चलाया जाना चाहिए।"[41]

अपने हिमालय की यात्रा में वहां के पर्व त्योहार और जीवन देखने का नया दृष्टिकोण कृष्णनाथ जी हमें देते हैं। जो मैदानी क्षेत्रों से भिन्न है। यहां मेला मैदानी क्षेत्र के मेले से अलग है। यहां मेला विशेष सांस्कृतिक अर्थ का द्योतक है। मेले को देखने का बाहरी नजरिया इन यात्रा वृतांतों में देखा जा सकता है। किन्नौर में सितंबर माह से अक्टूबर अंत तक 'उख्यड०' यानी फूलों का त्यौहार मनाया जाता है। जिसे आजकल 'फुलेच' भी कहा जाता है। किन्नौर के अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग समय पर यह त्योहार मनाया जाता है। उनको कई जगह 'मैनथोको' भी कहा जाता है। उस समय गांव के अधिकांश लड़के-लड़कियां, स्त्री पुरुष सभी ऊंचे-ऊंचे पर्वत शिखरों पर जाते हैं और वहां से ब्रह्म कमल और अन्य उपलब्ध पवित्र फूल चुनकर लाते हैं। रात भर लड़के लड़कियां वही रुकते हैं और सामूहिक नृत्य करते हैं। आनंद के साथ अपने शू, सावनी और प्रकृति का पूजन कर अगले दिन उन फूलों के साथ वापस गांव की ओर लोटते हैं। और उन फूलों को 'शू' को अर्पित करते हैं। इसी तरह 'डखरेन' पंगी गांव में मनाया जाता है। जिसके बारे में कृष्णनाथ जी 'किन्नर धर्मलोक' में ज़िक्र करते हैं। 'डखरेन' में भी लड़के-लड़कियां पहाड़ की ऊंचाई पर दो-तीन रात रुकते हैं और वहीं पर खाना पीना नृत्य में झूमते युवक युक्तियां आनंदित होते हैं और अपने पूर्वजों को पितरों को भोजन अर्पित करते हैं। उनका आशीर्वाद ग्रहण करते हैं। यह संस्कृति यहां की विशेषता को दिखाता है लेकिन बाहर के लोग (कोचा) इन पर्वों त्योहारों और परंपराओं को अपने ही चश्मे से देखने और व्याख्या करने के आदी हैं। इसी संदर्भ में कृष्णनाथ जी चीनी गांव के स्कूल मास्टर पांडे जी से जब डखरेन जाने की बात करते हैं तो पांडे जी का मानना है कि युवक-युवतियों का पहाड़ियों पर दो-तीन दिन रात भर रुकना काम रोक पर जाना है यही दृष्टि 'डखरेन' को देखने का कोचा दृष्टि कहा जा सकता है- "उनकी राय तो मेला देखने जाने की नहीं है। साफ-साफ कह देते हैं कि और सब मामले में आपका साथ दे सकता हूं। मेले में नहीं। ना मैं मेला देखता हूं। ना आपको जाने की राय दे सकता हूं। ना जाना ही सहज है।"[42]

यह वही बाहरी दृष्टि है जिसके आधार पर वहां की संस्कृति को देखने का, उसे परखने का, बाहरी व्यक्ति का अपना नजरिया है। कृष्णनाथ जी इन मुद्दों को बड़ी आत्मीयता के साथ उठाते हैं। इसी तरह का एक चित्रण हमें 'लद्दाख में राग विराग' में देखने को मिलता है। यहां कश्मीरियों का नजरिया लदाखियों के प्रति किस तरह से रहा है। इस संदर्भ में यह उद्धहरण महत्वपूर्ण है- "लद्दाख के बारे में कहते हैं। यहां की जमीन फलदार नहीं। यहां के मौसम का ऐतबार नहीं। यहां की बीवी वफादार नहीं।"[43] इस तरह का नज़रिया किसी भी समाज और संस्कृति के लोगों के प्रति अज्ञानता एवं कुत्सित मानसिकता का ही परिचायक है। जब कि सांस्कृतिक दृष्टिकोण से यह क्षेत्र अपने में विशिष्ट हैं। कृष्णनाथ जी लद्दाख के मुसलमानों और बौद्धों की संस्कृति में, व्यव्हार में बहुत कुछ समानता पाते हैं | मुस्लिम स्त्री

[41]स्पीति में बारिश, कृष्णनाथ, पृष्ठ 220
[42]किन्नर धर्मलोक, कृष्णनाथ, पृष्ठ 59
[43]लद्दाख में राग़-विराग, कृष्णनाथ पृष्ठ 56

सिर पर एक दुपट्टा ना बांधे तो बौद्ध स्त्री ही लगती है। बौद्ध स्त्री और मुस्लिम स्त्री में भेद करना मुश्किल होगा | उन्हें देखकर आप कह नहीं सकते कौन मुस्लिम है और कौन बौद्ध। भाषा, वेशभूषा और नैन-नक्श सभी एक दूसरे से मिलते जुलते हैं। कृष्णनाथ जी का मानना है कि "वैसे धर्म मजहब है। जो फांक डालता है। लेकिन देश, भाषा का नाता भी गहरा है। जो जोड़ता है। जिंदगी तो ऐसी ही है, दोरसी।[44]"

हिमालय क्षेत्र धार्मिक सौहार्द का परिचायक है। लद्दाख जहां अलग-अलग धर्मों के लोगों की भाषा रहन-सहन एक दूसरे को करीब लाती है। जो देश के अन्य हिस्सों में हमें कम ही देखने को मिलता है। इन यात्रा वृतांतों से ज्ञात होता है कि किन्नौर, स्पीति और लद्दाख की संस्कृति कितनी उन्नत और संपन्न रही है। लेकिन जैसे-जैसे वहां के लोगों का संपर्क कोचा (बाहरी लोगों) से हुआ, जो अपने साथ अपनी भाषा और संस्कृति लेकर आए, इनके आने के साथ धीरे-धीरे यहां की संस्कृति में भी बदलाव आया है। जिससे यहां के लोग उस सांस्कृतिक क्षति को देख चिंतित भी दिखाई देते हैं। कृष्णानाथ जी लिखते हैं "कोचा तो गैर-किन्नौरी है। अपने साथ गैर किन्नौरी जीवन शैली, भाषा और वर्षा लाये हैं।"[45]

कोई भी समाज तब तक पूर्ण गुलाम नहीं होता है। जब तक वह अपनी भाषा संस्कृति को बचाए रखता है। गुलामी की प्रक्रिया तभी पूरी होती है, जब हम अपनी भाषा संस्कृति को खो देते हैं और दूसरों की भाषा संस्कृति को अपनाने लगते हैं। जो अनेक रूपों में सांस्कृतिक उपनिवेशिकरण की प्रक्रिया है। केन्या के प्रसिद्ध साहित्यकार और आदिवासी चिंतक न्गुगी तो साफ शब्दों में कहते हैं कि 'कोई भी गुलामी तब तक स्थाई नहीं होती है जब तक भाषागत सांस्कृतिक गुलामी की पूरी प्रक्रिया संपन्न नहीं होती है|' पश्चिमोत्तर हिमालय के बहुत से गांव और लोगों के स्थानीय नाम बाहरी लोगों के आगमन के साथ-साथ बदलने शुरू हुए। वहां के लोगों और उनके स्थानों का हिंदीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई। ऐसे अनेक उदाहरण है जैसे पंगी गांव का किनौरी नाम पडे हैं। इसी तरह स्पीलो का किनौरी नाम पिलाङ और मुरङ का स्थानीय नाम गिनम है। स्थानीय निवासी जालम्बर जी इन सब घटनाओं से दुखी हैं। कृष्णानाथ जी के साथ संवाद जालंबर जी का संवाद महत्वपूर्ण है। "जालंबर इससे दुखी हैं। कहते हैं कि लोग नीचे से आते हैं। वह हमारा इतना भी ख्याल नहीं रखते हमारा नाम भी ठीक-ठीक नहीं पुकारते।अपनी जुबान नहीं बदलते। हमारा नाम बदल देते हैं। वह मुझसे जानना चाहते हैं कि वह ऐसा क्यों करते हैं? क्यों हमारा नाम बिगाड़ते हैं?[46]

कृष्णानाथ जी अपने हिमालय यात्रा के दौरान पश्चिमोत्तर हिमालय के क्षेत्रों में हस्तकलाओं की अनंत संभावनाएं देखते हैं। किसी भी देश की अर्थव्यवस्था में हस्तकला की अहम भूमिका रहती है।यह ग्रामीण इलाकों में एक बड़े तबके को रोजगार उपलब्ध कराने का महत्वपूर्ण स्रोत है। और विदेशी मुद्रा कमाने का भी साधन, साथ ही यह देश की सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण में भी सहायक है। हिमालय क्षेत्र में हस्कलाओं की अनंत संभावनाओं को देखते हुए यहां सरकार और प्रशासनिक स्तर पर इन गतिविधियों को आगे बढ़ाने की जरूरत कृष्णनाथ जी महसूस करते हैं। किन्नौर, स्पीति और लद्दाख के हस्तकलाओं की बदहाली पर भी चर्चा करते हुए वह लिखते हैं कि यहां के हैंडीक्राफ्ट सेंटर प्रशासन के उपेक्षा का शिकार है। संपूर्ण भारत में हस्तशिल्प की अपनी अनोखी परंपराएं रही हैं। इन में मुख्यता स्थानीय स्तर पर उपलब्ध सामग्री का उपयोग किया जाता है। जिसके जरिए स्थानीय कारीगरों को रोजगार

[44]वही,पृष्ठ 64
[45]किन्नर धर्मलोक, कृष्णनाथ, पृष्ठ 42
[46]वही, पृष्ठ 73

उपलब्ध कराया जा सकता है। हिमालय के इन छोटे-छोटे खेतिहर किसानों के लिए यह आय का एक वैकल्पिक साधन भी हो सकता है। हस्तशिल्प और ऊनी वस्त्र बनाने के क्षेत्र में यह क्षेत्र अपना महत्वपूर्ण योगदान देश को दे सकता है। कृष्णनाथ जी इन क्षेत्रों के हस्तकलाओं को संरक्षित करने की बात करते हैं। जो वहां की आर्थिकी को और मजबूत कर सकती है। "हस्तकलाओं के संरक्षण संवर्धन के रास्ते में यह प्रशासनिक रुख हिमालय में सब दूर बाधा है। दस्तकारी का संगठन सरकारी दफ्तर जैसा नहीं। इसका तो कामकाजी होना जरूरी है। इसके जरिए ही हिमालय के इन सीमा क्षेत्रों में रोजी-रोजगार दिया जा सकता है। सिर्फ जीविका ही नहीं जीवन का छंद लौटाया जा सकता है। यह छंद टूट गया है।"[47] अगर हिमालय के इन सीमांत क्षेत्रों में प्रशासन थोड़ा सा भी संजीदगी के साथ हस्तकलाओं को प्रोमोट करने का काम करें तो यहां की पारंपरिक कला पुनर्जीवित हो उठेगी। हस्तकला आम लोगों की कला है जिसके माध्यम से हिमालय के आम जन-जीवन के सौंदर्य बोध की अभिव्यक्ति हो सकती है।

वर्तमान में पश्चिमोत्तर हिमालय क्षेत्र के आर्थिकी का एक और स्रोत पर्यटन उद्योग है। जो बहुत तेज़ी के साथ फलने-फूलने फूलना लगा है। विशेषकर लद्दाख क्षेत्र बाकी क्षेत्रों से आगे है पर्यटन ने एक तरफ यहां की आर्थिकी को मजबूत किया है तो दूसरी तरफ हिमालय जैसे संवेदनशील क्षेत्रों के लिए बड़ी चुनौती भी लेकर आया है। यहां के सीमित प्राकृतिक संसाधन खासकर पानी की कमी आने वाली पीढ़ी के लिए कई समस्याएं पैदा कर सकती है। भविष्य के लिए किस तरह प्राकृतिक संसाधनों को संरक्षित करना है इसकी योजना इस क्षेत्र के लोगों को अभी से करने की जरूरत है। जिस तेजी के साथ यहां के पर्यावरण में बदलाव आ रहा है और जिसके कारण ग्लेशियर सिकुड़ते जा रहे हैं ऐसे में हिमालय क्षेत्र के लोगों को भावी पीढ़ी के लिए नए विकल्पों की तलाश करने की जरूरत है। हर साल लाखों की तादाद में पर्यटक इन क्षेत्रों में आते हैं और भविष्य में भी इसी तरह आते ही रहेंगे जो इन क्षेत्रों में बहुत बड़ी समस्या को न्योता दे सकती है। इससे निपटने के लिए स्थानीय प्रशासन और जनता को साथ मिल कर अनिवार्य कदम उठाए जाने की जरूरत है। पश्चिमोत्तर हिमालय के लोगों को विरासत में एक ऐसा समाज मिला है, जिसमें व्यक्ति और संपूर्ण समुदाय के हित में किसी प्रकार का टकराव या संघर्ष नहीं मिलता है। यहां लोग एक दूसरे को नुकसान पहुंचाने के भाव से दूर हैं। गांव में आने वाले हर अजनबी को स्त्री पुरुष दोनों समान भाव से स्वागत करते हैं। उनकी सहायता करने में पीछे नहीं हटते। यहां की स्त्रियां मैदानी क्षेत्रों की तरह किसी अजनबी से बात करते हुए संकुचाती नहीं हैं। "मेड पर अकेले स्त्रियां आती मिलती हैं। सकुचती नहीं है। खुद छेड़ती हैं: कहां से आ रहे हो? कहां जा रहे हो?[48] उपरोक्त उद्धरण उस समाज के खुले पन को दिखाता है। जहां किसी स्त्री का अजनबी पुरुष के साथ बात करने पर कोई पाबंदी नहीं है। स्त्रियां खुल कर संवाद करती हैं। इसी तरह का एक अदृश्य 'किन्नर धर्मलोक' में देखा जा सकता है- "वह जोड़ा बाहों में बाहें डाले लौट रहा है। बहुत खुश। अलस, मदिर चल रहा है। संकोच नहीं है। दिल्ली में भी ऐसे किशोर-किशोरी बाहों में बाहें डाले घूमते हैं असहज। जैसे आवेश में हों। डरते हों। जैसे एक दूसरे को भगाए लिए जा रहे हैं। लेकिन यह दोनों चलते हैं। थमते हैं। चलते हैं। सहज हैं।"[49] यही सहजता संपूर्ण पश्चिमोत्तर हिमालय के जन-जीवन में रची – बसी है | जहां कोई दिखावा नहीं, कोई हड़बड़ी नहीं। जीवन को सहजता और सरलता के साथ जीना यहां के लोग बखूबी जानते हैं। जो उन्हें अन्य क्षेत्रों से अलग और विशिष्ट बनाता है। क्या हम सोच सकते हैं कि तथाकथित सभ्य समाज का जज या कोई भी बड़ा अधिकारी रोडी-घारा, ईंट और सीमेंट का काम भी कर सकता है।

[47]लद्दाख में राग-विराग, कृष्णनाथ, पृष्ठ 136

[48]स्पीति में बारिश, कृष्णनाथ, पृ. 58

[49]किन्नर धर्मलोक, कृष्णनाथ, पृ.18

लेकिन पश्चिमोत्तर हिमालय के लोगों की यही सहजता सरलता इन यात्रा वृतांतों को खास बनाती है। कृष्णनाथ जी जब किन्नौर के पूह गांव पहुंचते हैं तो देखते हैं कि "गांव के पास दो-तीन आदमी खच्चर लिए ऊपर पहाड़ की ओर जा रहे हैं। पूछता हूं कि कहां जा रहे हैं? मालूम होता है कि ऊपर पत्थर लेने। पत्थर लाकर मकान बनाएंगे। भाषा में संस्कार है। बाद में पता चलता है कि वह जो पत्थर ढ़ोने जा रहे थे वह निचले हिमाचल प्रदेश सरकार के कोई जज हैं। यह अपना मकान बनवा रहे हैं। तो खुद ही पत्थर ढो रहे हैं। कहीं से कुछ सकुच नहीं रहे हैं।"[50] आज भी इन क्षेत्रों की लोगों में वही सहजता सरलता और श्रम के प्रति आदर का भाव देखा जा सकता है। श्रम किसी भी रूप में हो चाहे वह बौद्धिक या शारीरिक दोनों के प्रति समान आदर भाव है। आज भी हिमालय क्षेत्र के लोग देश के हर क्षेत्र में बड़े-बड़े सरकारी पदों पर आसीन हैं। लेकिन जब भी वे अपने गांव की ओर लौटते हैं तो वहां की जमीन से आत्मीय भाव से जुड़ते हैं। खेतों में, जंगलों में काम करते हुए वे शर्माते नहीं है। गर्व के साथ काम करते हैं। यही जीवन दृष्टि श्रम को लेकर मैदानी क्षेत्रों को भी अपनाने की ज़रूरत है। जहां बौद्धिक श्रम की तुलना में शारीरिक श्रम को कमतर आंका जाता है। शारीरिक श्रम करने वाले लोगों के प्रति हीन भावना देखने को मिलता है। क्या हम ऐसे समाजों को सभ्य कह सकते हैं? जो अपने को सभ्य कहने का दंभ भरता है।

कृष्णनाथ जी अपने तीनों यात्रा वृतांतों में पश्चिमोत्तर हिमालय की भाषा, संस्कृति यहां की परंपराओं, प्राकृतिक सौंदर्य और यहां के जनमानस के मनोभावों को व्यापक स्तर पर चित्रित किया है। इतना व्यापक चित्रण के बावजूद भी कृष्णनाथ जी महसूस करते हैं कि इस क्षेत्र को बहुत कम जान पाये हैं। बहुत कुछ जानना-समझना देखना पीछे रह गया- "देखता हूं कि कितना कम देख सका हूं। सतलुज के किनारे-किनारे ही किन्नौर को आर-पार कर रहा हूं।...किन्नर देश को आर-पार जान लेना कोई हंसी खेल नहीं है। इसकी परत पर परत है। यह एक बार में उघरती नहीं। जो उघरती है उसका भी अंत नहीं। यह लजाना और उघरना। उसे जान लेना तो जन्म जन्मांतर का काम है।"[51]

[50]वही, पृष्ठ124

[51]किन्नर धर्मलोक पृष्ठ 147